कबीर

एक विश्लेषण

८९१.४३०९२
चौं ३५३क

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली-८

कबीर : एक विश्लेषण

शिवदानसिंह चौहान
डा० सत्येन्द्र
प्रकाशचन्द्र गुप्त
ललिताप्रसाद सुकुल
गुलाबराय

डा. डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय
5860

पब्लिकेशन्स डिवीज़न
सूचना एवं प्रसार मंत्रालय

अप्रेल, १९५६

मूल्य छः आना।

मुद्रक—एलबियन प्रेस, कश्मीरी गेट, दिल्ली।

भूमिका

प्राचीन हिन्दी साहित्य के जो नवरत्न माने गये, उनमें कबीर का स्थान नहीं है। पर नवरत्नों की जो गिनती पहले मान्य थी, वह अन्तिम नहीं है। इधर स्वतंत्र रूप से विचार करनेवाले लोगों ने उस परिपाटी के विरुद्ध आवाज़ उठाई है।

स्वतंत्र विचारों की दृष्टि से देखने पर प्राचीन हिन्दी कवियों में कबीर का स्थान सर्वोच्च है। यदि उनकी विचार-धारा मान्य होती तो बाद को भारत के इतिहास का रूप कुछ और ही होता।

कविता की दृष्टि से भी कबीर में जितनी मौलिकता है, उतनी बहुत कम प्राचीन कवियों में है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर की कुछ कविताओं का अनुवाद अंग्रेजी में किया।

जिन पाँच महानुभावों के रेडियो भाषण इस पुस्तिका में संगृहीत हैं, वे हिन्दी के श्रेष्ठ आलोचक हैं। आशा है इस पुस्तिका से कबीर के साहित्य और सामाजिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जिज्ञासा और रुचि उत्पन्न होगी।

—सम्पादक

विषय-सूची

१. कबीर का युग	शिवदानसिंह चौहान	५
२. जीवन-परिचय	डा० सत्येन्द्र	१४
३. जनवादी कवि कबीर	प्रकाशचन्द्र गुप्त	२४
४. कबीर का दर्शन	ललिताप्रसाद सुकुल	३०
५. कबीर का काव्य कौशल	गुलाबराय	३८

: १ :

कबीर का युग

शिवदानसिंह चौहान

कबीर मध्य-युग के युग-प्रवर्त्तक सन्त और महाकवि हैं। उनका सुदीर्घ जीवन-काल पूरी पन्द्रहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक उन्नीस वर्षों को घेर लेता है। इस समय तक उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में मुसलमान सामन्तों ने यत्र-तत्र अनेक राज्य स्थापित कर लिये थे। दिल्ली की गद्दी पर लगभग दो सौ वर्षों से मुसलमान सुलतानों का राज्य रहा था। इस प्रकार तब तक मुसलमान इस देश के ही निवासी बन चुके थे।

इस घटना का केवल भारतीय राजनीति पर ही नहीं, बल्कि समूचे भारतीय जीवन, भारतीय समाज, कला, संस्कृति और विचारपद्धति पर व्यापक, युगान्तकारी प्रभाव पड़ा।

देश के कोने-कोने में फैले हुए हिन्दू और मुसलमान शासक जाति और धर्म का विचार न करके अपने-अपने राज्यों के सीमा-विस्तार के लिए परस्पर लड़ते रहते थे। दिल्ली के सुलतान भी अपने साम्राज्य को सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने या अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए निरन्तर युद्धों में ही जूझते रहते थे। ऐसी घटनाएँ तो आये-दिन होती ही रहती थीं। यह सारी अन्तःकलह और अराजकता तो मध्ययुग की विशेषता थी। लेकिन उस युग के काव्य और कला में इस राजनीतिक अव्यवस्था का चित्रण ज्यों का त्यों सीधे ढंग से ढूँढ़ना व्यर्थ होगा। बात यह है कि उस युग की सबसे बड़ी वास्तविकता ऊपरी राजनीतिक उथल-पुथल नहीं है। हिन्दू राजाओं को पराजित करके मुसलमान राजाओं का राज्य

स्थापित करना ऐसी बड़ी घटना थी कि कविता और कला की प्रवृत्तियों में कोई मौलिक युगान्तर पैदा कर देती। ऐसे बाह्य आक्रमण भारत पर बार-बार होते आये थे और आक्रमणकारी किरात, हूण, यवन और शक आदि जातियाँ यहाँ आकर बसती भी गई थीं, लेकिन उन्होंने यहाँ के धर्म-मत और जाति-वर्ण पर आधारित समाज-व्यवस्था को कभी इस तरह नहीं झकझोरा और न समाज में उन प्रगतिशील शक्तियों को ही शक्ति और प्रेरणा दी जो उठकर रूढ़ियों से टकरातीं और दलित और वंचित लोगों को आत्म-गौरव प्रदान कर मुक्ति मार्ग पर अग्रसर करतीं। वे स्वयं अपनी विशेषता खोकर भारतीय समाज में घुलमिल गईं। परन्तु इस बार ऐसा नहीं हुआ था। इस्लाम स्वयं एक सुसंगठित सम्प्रदाय था। उसके आने से और यहाँ की अनेक दलित जातियों के धर्मपरिवर्तन से दो धर्मों और संस्कृतियों का संगम तो हुआ, लेकिन यह संगम ऐसा था जिसमें दोनों धाराएँ जीवन के हर क्षेत्र और स्तर पर एक-दूसरे से प्रभावित होकर भी अपना वैशिष्ट्य और स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखती आई थीं। इस्लाम के एकेश्वरवाद, सामाजिक न्याय और धार्मिक समानता के सिद्धान्तों ने यहाँ की दलित, जाति-भ्रष्ट, शूद्र जातियों में सहज ही एक नई आशा का संचार किया, और एक विराट् जन-आन्दोलन को जन्म देने में परोक्ष रूप से सहायता भी दी। साथ ही उच्च वर्गों और जातियों के उदार मनोशास्त्रज्ञ विद्वानों में भी उसने यह चेतना जगा दी कि पौराणिक मत और जाति व्यवस्था के बन्धन ढीले करने में ही कल्याण है।

मध्यकाल के इतिहास और धर्म-आन्दोलनों को समझने के लिए यह याद रखने की बात है कि उन दिनों विभिन्न वर्गों के आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों को धर्म-व्यवस्था ही विचार-क्षेत्र में व्यक्त और प्रतिबिम्बित करती थी, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारों का नियमन करता था—यही तब के सामंती समाज का स्वीकृत विधान था। सर्व-साधारण की आर्थिक-सामाजिक गुलामी के बन्धनों को और कठोर बनाने

के लिए विधि-विधान, तीर्थाटन, स्नान, वेदपाठ, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड आदि बाह्याचारों की शृंखला को और जटिल तथा सर्वसाधारण के लिए दुरभिसाध्य और कठोर बनाया जाता था। इसी कारण समाज की निम्न अधिकार-वंचित श्रेणियों की ओर से सामंती आर्थिक-सामाजिक गुलामी पर आक्रमण करने के लिए हमेशा धर्म के कठोर विधान पर ही आक्रमण किया जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि उस काल में धार्मिक बन्धनों को ढीला करने की जो चेष्टाएँ होती थीं, वह मूलतः सामंती, आर्थिक-सामाजिक गुलामी की जड़ों पर ही कुठाराघात करती थीं। उन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-संघर्ष धार्मिक स्तर पर जनता की लोक परम्परा या उच्च वर्गों की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विभिन्न मतमतान्तरों के बीच धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के अधिकार की मांग वास्तव में आर्थिक-सामाजिक न्याय की मांग थी। जाति-वर्ग श्रेणी की भिन्नता के बावजूद भक्तपद प्राप्त करने की मांग उस समय के अमानवीय, अन्यायपूर्ण समाज-सम्बन्धों के मानवीयकरण की मांग थी, और उन बनावटी तथा ऊपर से थोपी गयी मर्यादाओं को तोड़ने की मांग थी, जो विशाल जन-समूह को अपने अधिकारों से वंचित रखती हैं। यही कारण है कि उस काल के तमाम जन-आन्दोलनों का बाह्य रूप धार्मिक था, तमाम प्रगतिशील जननेता और मनीषी धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानव मात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे और उन तमाम सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों साम्प्रदायिक कट्टरताओं, बाह्य आचार और कर्मकाण्ड पर खुल कर आक्रमण करते थे, जिनका आश्रय लेकर उच्चवर्ग और उच्च जातियाँ सर्वसाधारण का शोषण-दोहन करती थीं। यदि इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यपरक दृष्टि से हम देखें तो, हमें कबीर के काव्य में अपने युग की सभी मूलभूत समस्याओं का अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ चित्रण मिलेगा।

कबीर के युग-चित्रण को गहराई से समझने के लिए उन धार्मिक आन्दोलनों को जानने समझने की भी ज़रूरत है जो कबीर से पहले और कबीर के समय में लोक-मानस को आलोड़ित कर रहे थे, जिनकी परम्पराएँ बन चुकी थीं और जिनको स्वीकार करके भी कबीर ने जिनसे विच्छेद किया था और स्वयं एक नई परम्परा गढ़ कर भारतीय चिन्ता-धारा में एक युगान्तर उपस्थित किया था।

उन दिनों की विक्षुब्ध परिस्थिति में सत्ताधारी उच्च वर्गों और उच्च जातियों के अन्दर प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्होंने भी संघबद्ध इस्लाम का मुकाबला करने के लिए देश में फैले हुए विभिन्न मत-मतान्तरों को संघबद्ध करने की कोशिश की। उस समय यहाँ ब्रह्मवादी, कर्मकाण्डी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेकों मत प्रचलित थे जो स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि अनेक आधारों पर संगठित थे। स्मार्त पंडितों ने शास्त्रीय वचनों के आधार पर एक सर्वसम्मत मत निकालने की कोशिश की, और शास्त्रवाक्यों की छानबीन करके एक आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर करने के लिए निबन्ध-ग्रन्थों की रचना की। वस्तुतः इन निबन्ध-ग्रन्थों की आचार-प्रवणता उच्च जाति के हिन्दुओं को ही संघबद्ध कर सकती थी, क्योंकि तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उनका केन्द्र-बिन्दु था, और मूलतः उनका लक्ष्य अन्त्यजों और निम्न श्रेणियों के प्रति सामाजिक रूप में वर्जनशील रहकर उच्च जाति के हिन्दुओं को और भी अधिक हिन्दू बनाना था। सिद्ध, जोगी और सन्त कवि इस आचारप्रवण, संकीर्ण मतवाद पर लगातार आक्रमण करते रहे, क्योंकि इस प्रकार की संघबद्धता से जनता का हित-साधन नहीं होता था।

इसके विपरीत, मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमणों के समय से ही पूर्व और उत्तर भारत में निम्न वर्ग की जातियों की ओर से विद्रोह का झंडा लहराया जाने लगा था। बिहार में बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध तांत्रिकों या सिद्धों का प्रभाव

बढ़ा, जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियों से आते थे। बिहार से लेकर बंगाल और आसाम तक इन 'चौरासी सिद्धों' का जन-साधारण पर अनन्य प्रभाव था। सिद्ध और योगी सम्प्रदाय में, जिसमें सबसे प्रमुख गोरखनाथ हैं और जिनके नाम पर नाथ-सम्प्रदाय चला, वामाचार रहस्य और गुह्य प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं तथा और भी अनेक उच्च जातियों द्वारा आरोपित धार्मिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति निम्न वर्ग के लोगों का अन्धा, अनियन्त्रित विद्रोह था, इसमें कोई सन्देह नहीं। यही कारण है कि इन सिद्धों और नाथ-पन्थी योगियों ने शास्त्रीय स्मार्त मत को तो ठुकराया ही, साथ ही वे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर आधारित किसी भी दार्शनिक मतवाद को मानने को तैयार न थे। नाथ सम्प्रदाय वर्णाश्रम व्यवस्था पर सीधी चोट करता था। इनकी उपासना ध्यान और ईश्वरोपासना के बाह्य-विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट करती थी। इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। वे न हिन्दू आचारों के कायल थे, न इस्लामी, यद्यपि योगी जाति के लोग कालान्तर में मुसलमान हो गये थे। वे हठयोग-साधना, अलौकिक करामातों और चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध थे। इससे यही सिद्ध होता है कि यह विद्रोह मूलतः लक्ष्यहीन, अंध और अनियन्त्रित था। साधारण जनता इन सिद्धों और योगियों के प्रति सहज ही आकर्षित होती थी, क्योंकि उसे लगता था कि इनका हठयोग वर्ण व्यवस्था, पौराणिक धर्म और भाग्यवाद को चुनौती देता है।

कबीर स्वयं नाथपंथी परम्परा के सन्त थे, लेकिन उनका विद्रोह विनाशक न था। उन्होंने एक दूसरे धार्मिक आन्दोलन की परम्परा से इस विद्रोह को सम्बद्ध करके उसे एक जनकांक्षित उद्देश्य देकर मानव मात्र के लिए परस्पर मिलन और एकता का मार्ग प्रशस्त किया। धार्मिक आन्दोलन की यह दूसरी धारा, प्रेम-भक्ति की धारा थी जो दक्षिण से चलकर उत्तर भारत को आप्लुत कर रही थी।

सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना पद्धति वर्तमान थी। इन्हीं लोगों की परम्परा में वैष्णव आचार्य रामानुजाचार्य हुए थे। उन्होंने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जातियों को ऊँचा किया। उनका श्री सम्प्रदाय मायावाद का विरोधी था। इनकी ही शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए, जो कबीर के गुरु थे। वह दक्षिण से उत्तर भारत में आये थे। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि मध्य युग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। उनके अनुसार जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है। इसी प्रकार सभी भाई-भाई हैं। सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं। उन्होंने देश भाषा में कविता लिखी और ब्राह्मण से चांडाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया। स्वामी रामानन्द के बारह शिष्य थे, जिनमें रैदास (चमार) कबीर (जुलाहा) धन्ना (जाट) सेना (नाई) आदि निम्न जातियों के लोग भी थे।

कबीर के समय में देश में धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी। वह थी सूफी साधना की धारा। सूफी साधक इस्लाम के एकेश्वर-वाद से सन्तुष्ट न थे, और भगवान् को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह मानते थे। पहले ये साधक पंजाब और सिंध में आकर बसे। फिर धीरे-धीरे उनकी परम्परा सारे भारतवर्ष में फैल गई। ये साधक मुसलमान उल्माओं की तरह कट्टर और संकीर्ण मतवादी न थे। इसीलिए मुईनुद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरंगज (१२०० ई०), शेख चिश्ती (१२६१ ई०) तथा निजामुद्दीन औलिया (१२३५) आदि सूफी साधक समान भाव से हिन्दू और मुसलमानों का विश्वास और सम्मान प्राप्त कर सके थे। बाद में इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले लोक-प्रचलित आख्यायिकाओं का आश्रय लेकर जनता तक अपनी बात पहुँचाई। इस प्रकार कबीर के समय में और उनसे पहले देश में धार्मिक आन्दोलनों के रूप में जनता का विद्रोह जिन

तीन परम्पराओं के रूप में व्यक्त हुआ था, कबीर को उन सब को आत्मसात् करने का सुयोग मिला था। इसी कारण उनकी वाणी में इतना विशद युग-चित्रण है और इतना अक्खड़पन, सहज भाव, साहस और गहरा व्यंग है जो उन्हें एक युगावतारी व्यक्ति की कोटि में रख देता है।

अपने युग के विराट जन-आन्दोलन की इन तीन धाराओं को अपने अन्दर आत्मसात् करके भी कबीर किसी एक के नहीं बने। वे एक ऐसी युग-सन्धि के काल में पैदा हुए थे जिसमें हिन्दू और मुसलमान जातियों के उच्च वर्गों में एक दूसरे के प्रति चाहे जितनी असहिष्णुता क्यों न रही हो, लेकिन निम्न वर्ग और जातियों में परस्पर एक दूसरे के निकट आने की और मिल-जुलकर रहने की भावना बलवती होती जा रही थी और युग की आवश्यकता यह थी कि कोई सर्व साधारण के अनियन्त्रित विक्षोभ और विद्रोह को एक सरल और सीधा मार्ग दिखा सके। कबीर ने निर्गुण प्रेमभक्ति का मार्ग लोगों को दिखाया और उन्होंने प्रेम को ही साध्य और साधन दोनों माना—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

भगवत्प्रेम के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले, उन्होंने जातिगत, वंशगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत और शास्त्रगत विशेषताओं के फैले हुए जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक अदम्य साहस के साथ उच्च वर्ग की मान्यताओं की तीखी आलोचना की। पण्डित और शेख इन दोनों पर उन्होंने समान रूप से व्यंग्य कसे हैं। और उनकी इन झकझोर देने वाली व्यंग्योक्तियों में ही उस युग की सारी समस्याएँ मूर्त हो जाती हैं।

कबीर के पदों और साखियों में अनेकानेक व्यंग्योक्तियाँ मिलती हैं। कहीं वे पूछते हैं—"यदि नग्न घूमने से योग मिलता तो वन के सभी मृग मुक्त हो जाते; सिर का मुण्डन कराने से यदि मुक्ति मिल जाती तो, सिद्धि की ओर भेड़ क्यों नहीं चली गई?" कहीं वे वर्णाश्रम-व्यवस्था पर

व्यंग्य कसते हुए पूछते हैं—"तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र हैं, हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं और तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो?" छुआछूत के विरुद्ध तर्क करते हुए कबीर कहते हैं—"जल में छूत है, थल में छूत है और ग्रहण के अवसर पर किरणों में भी छूत है, जन्म में भी छूत है और फिर मरने में भी छूत है। कह तो रे पण्डित, कौन पवित्र है? आँखों में भी छूत है (कहीं शूद्र की दृष्टि न पड़ जाये), बोली में छूत है, कानों में भी छूत है, उठते-बैठते तुम्हें छूत लगती है, यहाँ तक कि भोजन में भी छूत है। इस प्रकार कर्म-बन्धन में फँसने की विधि तो सभी कोई जानते हैं; मुक्त होने की विधि कोई एक ही जानता है। कबीर कहता है कि जो राम को हृदय में विचारते हैं, उन्हें छूत नहीं लगती।"

बनारस के सन्तों का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

"साढ़े तीन-तीन गज की धोती पहने हुए, तिहरे तागे लपेटे हुए, गले में जय-माला डाले हुए और हाथ में माला लिये हुए, इन कमबख्तों को हरि के सन्त नहीं कहना चाहिए। यह लोग तो बनारस के ठग हैं। मुझे ऐसे सन्त अच्छे नहीं लगते जो टोकरे भर-भर कर पेड़े गटक जाते हैं। बरतन माँज कर ऊपर खाना खाते हैं कि कहीं किसी की भोजन पर छाया न पड़ जाये और लकड़ी धोकर जलाते हैं।"

राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडम्बर पर चोट करते हुए कबीर कहते हैं—"काज़ी, तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बना, हम तो दीन बेचारे ईश्वर के सेवक हैं और तुम्हारे मन को राजसी बातें ही भाती हैं। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर, धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी।" एक और स्थान पर काज़ी को नसीहत देते हुए कहते हैं कि "ए पागल, तू दीन से सहानुभूति नहीं रखता, इसलिए तेरा जन्म किसी काम का नहीं है।"

कबीर जनता के कवि थे और जनता के प्रति उनके हृदय में असीम करुणा और अनुराग का भाव था। उन्हें राजा के घर जाने में

आपत्ति थी। एक पद में उन्होंने कहा भी है कि "हे राजन्, तुम्हारे घर कौन आयेगा ? तुम्हारे दूध से अधिक मैंने विदुर के पानी को अमृत करके माना है। तुम्हारी खीर की तुलना में मैंने उनका साग पाया, जिसका गुण गाते-गाते मैंने सारी रात बिता दी। कबीर का स्वामी आनन्दमय विरोध करने वाला है, जिसने किसी के जाति-बन्धन को नहीं माना।"

इस प्रकार कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आचार-प्रवणता और सामाजिक अन्याय और हिन्दू मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की, वे निश्चय ही युगानुरूप थे। यह कह कर कि 'साईं के सब जीव हैं, कीरी, कुंजर दोय' उन्होंने मानव-मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के लिए सब के लिए समान अधिकार की मांग की। इस विराट जन-आन्दोलन के सबसे प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा, उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए एक जीवन्त सन्देश भी।

: २ :

जीवन-परिचय

डा० सत्येन्द्र

कबीर के जीवन पर आज तक पर्याप्त विचार हुआ है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तिम निर्णय हो गया है। कबीर भी उन महापुरुषों की परम्परा में हैं, जो अपने सम्बन्ध में कोई परिचय देना नहीं चाहते। फिर भी कवि की अभिव्यक्ति अपने व्यक्तित्व से अछूती नहीं रह सकती। उनकी रचनाओं में जहाँ तहाँ कुछ न कुछ निजी बातें झलक ही जाती हैं। कबीर की रचनाओं में भी हमें उनके जीवन के सम्बन्ध में आन्तरिक साखी के रूप में कुछ न कुछ सामग्री मिल ही जाती है। ऐसे उल्लेख यथार्थतः प्रमाण, उदाहरण अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने की शैली में हुए मिलते हैं। इनके आधार पर कबीर के जीवन का चित्र अंकित करते समय सबसे पहली बात तो यह विदित होती है कि कबीर जुलाहा थे। उन्होंने एक दो स्थल पर नहीं वरन्, कई स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया है कि वे जुलाहा हैं। कहीं उन्होंने लिखा है :-

तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलहा चीन्हिन मोर गियाना
या
जात जुलाहा मति कौ धीरे, हरिषि हरिषि गुण रमै कबीर
या
जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी,
तो कहीं लिखा है :-

तननां बुननां तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया सरीर

तो कबीर की निजी साखी से इनका 'जुलाहा' होना तो सिद्ध है,

पर विवादास्पद विषय यह उपस्थित होता है कि ये मुसलमान जुलाहे थे या हिन्दू। कबीर ने कहीं-कहीं अपने लिये 'कोरी' शब्द का भी उपयोग किया है :–

हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी

अथवा

कोरी को काहू मरम न जाना, सब जग आन तनायो ताना
कहत कबीर कारगह तोरी, सूनै सून मिलाये कोरी।

कबीर यदि 'कोरी' होंगे तो हिन्दू माने जायेंगे। इस 'कोरी' और 'जुलाहा' की सन्धि बैठाने के लिए एक कल्पना यह की गई है कि कबीर पहले कोरी हिन्दू थे, फिर मुसलमान हुए तो इनका कुटुम्ब जुलाहा कहलाया। किन्तु इस मत को मान्यता नहीं मिली। कबीर के सम्बन्ध में उन्हीं के समकालीन सन्त रैदास ने कहा है:–

जाकें ईद बकरीद नित गउरे बध करें मानियें सेष सहीद पीरों

जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का जन्म शुद्ध मुसलमान कुल में हुआ था। वे जन्म से मुसलमान थे। इस मत की प्रतिष्ठा करने वाले, कबीर के मत की समीक्षा करते हुए उसमें कुरान से साम्य दिखाते हैं। इनका कहना है कि यह साम्य आकस्मिक नहीं, कबीर के गहरे मुसलमानी संस्कारों तथा आस्थाओं के कारण है। इधर कबीर की ही साखी से यह विदित होता है कि वे स्पष्ट कहते हैं कि मैं न हिन्दू हूँ और न मुसलमान। इसके उत्तर में इन्हें मुसलमान मानने वाले कहते हैं कि कबीर जन्म से मुसलमान होते हुए भी 'ज़िन्दीक' अथवा जिंद थे। कबीर ने लिखा है :–

कहै कबीर हमारे गोव्यंद, चौथे पद में जन का ज्यंद

यह 'ज्यंद, जिंद या ज़िन्दीक' सूफी होते हैं, और कहरना के विश्वासी नहीं होते। अतः कबीर हिन्दू तो जन्म से ही नहीं थे, मुसलमान भी वे कट्टर नहीं थे। पर दूसरे शोधक कहते हैं कि कबीर की अन्तर्साक्षी कुछ और ही भेद खोलती है। इनका कथन है कि कबीर की

वाणियों में नाथ-पन्थी सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट है, वह बहुत गहरा है। बिना नाथ-पन्थी सिद्धान्तों को समझे यथार्थ में कबीर की वाणियों को समझ सकना भी संभव नहीं—इनके विचार से कबीर जुलाहा जाति में पैदा हुए थे जो बौद्ध धर्म के ह्रास काल के अवशेषों में थी और जिस पर नाथ-पन्थी योगियों का गहरा प्रभाव था। यह जाति कमीन समझी जाती थी। कबीरदास ने लिखा है—"आइ हमारे कहा करोगी, हम तो जाति कमीना।" यही कारण है कि कबीर में हठयोग के प्रति इतना विश्वास है, और नाथ पन्थ के सिद्धान्तों से इतना साम्य।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि कबीर का व्यक्तित्व जटिल था एक ओर वे मुसलमानी धर्म और उसके विश्वासों से परिचित थे, पर ज़िन्दीक सूफी, उदार दृष्टि वाले थे, दूसरी ओर वे नाथ पन्थियों तथा योगियों के सिद्धान्तों पर भी गहरा विश्वास रखते थे,. और उनके गूढ़ अभिप्राय इनकी वाणी में समाविष्ट हैं। किन्तु केवल यहीं यह जटिलता नहीं समाप्त हो जाती। सूफी और नाथ पन्थी योगी कबीर को 'वैष्णव' कबीर ने आच्छादित कर लिया है। यद्यपि 'कबीर' ने यह बताया है कि

ता साहिब के लागौं साथा, दुख सुख मेटि रह्यों अनाथा
जा जसरथ धरि औतरि आवा, ना लंका का राव सन्तावा।

फिर भी उनका राम वैष्णव शब्द है जो अपने अनेक पर्याय-वाचियों आदि के साथ कबीर की वाणी में पूर्णतः व्याप्त हैं। कभी-कभी तो वे विष्णु के अवतार में भी आस्था रखते हुए विदित होते हैं, यथा :—

तव काढ़ि खडग कौप्यौ रिसाइ, तोहि राखनहारो मोहि बताइ
खंभा में प्रगट्यो गिलारि, हरनाकस मारयौ नख विदारि
महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियौ भगती मेव।
कहे कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबार्यौ अनेक बार।

फिर भी ऐसा विश्वास भले ही अपवादस्वरूप हो, वैष्णव सम्प्रदाय

का जादू तो सिद्ध करना ही है। यों भी कबीर को वैष्णवों से प्रेम है और शाक्तों से घृणा—

'साकत मरें सन्त जन जीवैं
भरि भरि राम-रसायन पीवैं

तथा

बेस्नो की छतरी भली,
ना साकत बड़गाँव।

अथवा

साकत ब्राह्मण मति मिलै,
बैस्नो मिलै चंडाल।

तो यह विदित होता है कि उक्त मुसलमानी धर्म में परिणति प्राप्त नाथपन्थी जुलाहा जोगी कुल में जन्म लेकर कबीरदास 'वैष्णव' हुए। 'वैष्णव' होने की बात किंवदन्ती से ही नहीं कबीर के प्रमाण से भी सिद्ध है। कबीर ने बताया है कि—

'कासी में हम प्रगट भये हैं रामानंद चेताये'

कबीरदास रामानन्द के शिष्य हुए, और 'राम' का नाम जपने लगे। कबीरदास के इस धर्माचरण से घर में माँ के साथ क्लेश खड़ा हो गया प्रतीत होता है, और उसका उल्लेख कबीर अपनी भक्ति की दृढ़ता के प्रभाव से करते हैं। गुरु ग्रन्थ साहिब में आये कबीर के एक पद में लिखा है :—

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।
तनना बुनना सब तजिओ कबीर,
हरि का नाम लिख लिओ सरीर

° ° ° °

जब लग भरों नली का बेह
तब लग टूटै राम सनेह

ठाढ़ो रोवै कबीर की माई
ए लरिका क्यूं जीवै खुदाइ
कहै कबीर सुनहु री माई
पूरणहारा त्रिभुवन राई ।।

कबीर की माँ को पुत्र के लक्षणों से यह विदित होता था कि यह भूखों मर जायेगा। एक अन्य स्थान पर और ऐसा ही प्रसंग है—

निति उठि कोरी भागरि आनै, लीपत जीउ गइयो,
ताना बाना कछु न सूझै, हरि हरि रस लपटिओ,
हमारे कुल कउने राम कहिओ।
जब कि माला लई निपूते तवते सुखुन भइओ ।।

कबीर ताना बाना छोड़ कर राम नाम जपने में संलग्न हो गये थे, उस राम नाम को जपने में जो कबीर के कुल में कभी न जपा गया था। इस जप के समय से ही कबीर के घर में दुख ने डेरा डाला, और सुख चला गया। कबीर ने दुख चाहा भी था :—

सुख के माथे सिल परैं, नाम हरि का जाय
बलिहारी वा दुख की, पल पल नाम रटाय।

कबीर ऐसे दारिद्र्य और दुःखपूर्ण परिस्थिति में रहते हुए भी राम भक्ति में अटल थे। माँ तो इनसे दुखी थी ही; इनकी स्त्री भी प्रसन्न प्रतीत नहीं होती। क्योंकि एक पद में कबीर ने माँ के वचनों को यों उपस्थित किया है :—

मेरी बहुरिया का धनिया नाउ
ले रख्यौ रामजनिया नाउ
इन मुंडियन मेरा घरु घुंघरावा
बिटवहि राम रमौआ लावा।

माँ के इस दुःख पर कबीर ने यह आश्वासन उसे दिया—

"कहत कबीर सुनहु मेरे भाई
इन मुंडियन मेरी जानि गँवाई"

माँ को पुत्र के राम भक्त हो जाने का ही नहीं अपनी पुत्र-वधू के 'राम-जनिआ' हो जाने का भी खेद है। 'राम जनिआ' को व्यावहारिक भाषा की 'रामजनी' मानकर प्रियादास की भक्तमाल की टीका में कबीर के वृत्त में आये 'बारमुखी लई संग' से संगति भिड़ाने पर कबीर की स्त्री में वेश्यात्व के आरोप की कल्पना भी की जा सकती है, पर कबीर की माता को तो "राम" शब्द के कारण क्षोभ है। उक्त पद में कबीर की स्त्री का नाम "धनिया" लिखा गया है, पर कबीर के पदों में आये "लोई" सम्बोधन से प्रचलित किंवदन्ती को जोड़ देने पर यह विदित होता है कि कबीरदास की स्त्री का नाम 'लोई' ही था। यह लोई स्त्री भी कबीर की माता की भाँति कबीर से असन्तुष्ट थी। कबीर ने 'लोई' की आपत्ति और अपना उत्तर निम्न पद में दिया है :—

तूटे तागे निखुरी पानि, दुआर ऊवरि झिलका वहि कान।
कूच बिचारे फूए फाल, इहा मुंडिआ सिर चलिवौ काल।
इहु मुंडिआ से गलो द्रव खोई, आवत जात नाक सर होई।
तुरी नारी की छोड़ी बाता, राम नाम वाका मनुराता।
लरकी लरिकन खैबौ नाहि, मुंडिआ अनुदिन धायीं जाहि।
सुनि अंधली लोई बेपीर, इन्हि मुंडिअन भजि सरन कबीर।

इस पद में 'लरकी लरिकन' और 'लोई' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। कबीर ने विवाह किया था, उनके सन्तान भी थी। यह प्रसिद्ध ही है कि कबीर ने अपने पुत्र की सम्पत्ति परिग्रह वृत्ति को देख कर कहा था :—

बूड़ा वंस कबीर का, उपजिओ पूत कमाल।
हरिका सुमिरन छाँडिकै, घरि लै आया माल।

इस विवरण से कबीर के व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू स्पष्ट होता है। एक ओर जहाँ कबीर आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपलब्धियों में संलग्न थे, वहाँ दूसरी ओर गृहस्थी के संघर्ष को भी मस्ती के साथ झेल रहे थे। घर के व्यवसाय को उन्होंने छोड़ नहीं दिया था, पर वह 'हरि-चर्चा' के

आधिक्य के कारण शिथिल बहुत हो गये थे। इससे एक ओर जहाँ आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ रही थीं, वहाँ दूसरी ओर सन्तों के समागम से उनके सत्कार में भी दारिद्रय की वृद्धि हो रही थी। घर के बालक भले ही भूखे रहें, पर सन्तों का सत्कार तो होना ही चाहिए। कबीर की साखियों में अपरिग्रह का प्रबल पोषण किया गया है—

१. साधु गांठि न बांधई, पेट समाता लेई
साईं के सम्मुख रहे, जहँ मांगे तहँ देई
२. जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम
दोऊ हाथ उलीचिए, यह सज्जन को काम

और यह प्रतीत होता है कि कबीर इसी अपरिग्रह के सिद्धान्त के अनुसार अपने साईं पर पूरा भरोसा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु कबीर को सबसे अधिक दुख तथा वेदना अपने अंत समय में हुई विदित होती है। उनका यह पद द्रष्टव्य है :—

ज्यों जल छोडि बाहर भयो मीना, पूरब जनम हौं तप का हीना।
अब कहु राम कवन गति मोरी, तजीले बनारस मति भई थोरी॥
सकल जनम सिवपुरी गँवाया, मरती बार मगहर उठि आया।
बहुत वर्ष तय कीया कासी, मरन भया मगहर को बासी॥
कासी मगहर सम बीचारी, ओछी भगति कैसे उतरसि पारी।
कहु गुरु भाजि सिव सब को जानै, मुआ कबीर रमत श्री रामै॥

इस पद से यह विदित होता है कि कबीर को कासी बहुत प्रिय थी, उनका प्रायः समस्त जीवन कासी में ही बीता। अन्त समय में बड़े दुख के साथ उन्हें अपनी प्रिय कासी छोड़ कर मगहर जाना पड़ा। 'मगहर' क्यों जाना पड़ा? इस विषय में कबीर की साखियों से ही दो प्रकार का समाधान प्रस्तुत होता है। एक तो कबीर के वे पद हैं जो कहते हैं कि :—

जो कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कौन निहोरा।

तथा

चरन-बिरद कासी कौं न देहूँ, कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ।

इन पदों से यह प्रकट होता है कि कबीर ने कासी इसलिए त्यागी कि वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि भगवान् के भरोसे रहने वाला व्यक्ति 'निरंजन' में रमने वाला व्यक्ति काशी से बाहर भी यदि अपने प्राण त्यागेगा, तो भी उसे राम का धाम मिलेगा। अथवा यह भाव भी हो सकता है कि काशी में मरने सें तो मुक्ति मिल जायेगी, काशी से बाहर मरने पर ही राम का भरोसा किया जा सकता है। वे अन्त समय में भी राम की भक्ति के आधार को नहीं त्यागना चाहते थे। भक्त कबीर में तो ऐसा अनन्य भाव हो सकता है। पर कबीर तो भक्त से भी अतिरिक्त बुद्धि विश्वासी आध्यात्मवादी थे। वे केवल राम का भरोसा सिद्ध करने के लिये ही अपनी प्यारी काशी क्यों छोड़ते? अतः दूसरा समाधान इस काशीत्याग तथा मगहर-वास के लिए ऐतिहासिक कारण का अनुसन्धान करता है। उसके समक्ष कबीर का यह पद आता है:--

कहा अपराध सन्त हौं कीन्हा, बाँधि पोट कुंजरकुँ दीन्हा,
कुंजर पोट बहु बंदन करे, अजहू न सूझै काजी अन्धरे।
तीनि बेर पतियारा लीन्हा, मन कठोर अजहू न पतीना

इस पद से यह अभिव्यक्त होता है कि किसी काज़ी ने कबीर के हाथ पैर बाँध कर हाथी के पैर के नीचे डलवा दिया था। हाथी को जब रौंदने के लिए प्रेरित किया गया तो उसने पोटली बने हुए कबीर को प्रणाम किया, पर कुचला नहीं। काज़ी के तीनों प्रयत्न व्यर्थ गये।

कबीर के सम्बन्ध में ही इस आलौकिक घटना का उल्लेख मिला है। इसमें कबीर के विरुद्ध सिकंदर लोदी की आज्ञा से किये गये दुर्व्यवहार का उल्लेख मिलता है। इसी संकेत के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सिकंदर लोदी के अत्याचारों से पीड़ित होकर कबीर को काशी छोड़नी पड़ी। मगहर एक सुरक्षित स्थान था, वहाँ कबीर ने शरण ली और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

कबीर के इस जीवन परिचय से कबीर के महान व्यक्तित्व की झाँकी

मिलती है। किन-किन परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए कबीर ने सत्य शोध में प्रवृति दिखाई और जिस सत्य को उन्होंने पाया, उसको किस निर्भीकता से उन्होंने डंके की चोट सबको सुनाया, इसका कुछ ज्ञान हमें कबीर के शब्दों से ही हो जाता है। कबीर का यह प्रबल व्यक्तित्व उसकी अन्तराल के व्यग्र सत्य अनुसन्धित्सु जिज्ञासा पर निर्भर करता है। सत्य के स्वरूप का निर्णय करने से पूर्व कबीर धर्म के प्रमुख स्थानों पर गये थे, बुद्ध की भाँति वन-वन घूमे थे :--

जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौ उदासी।

उदासी होकर ही नहीं सम्भवतः कबीर उपासी होकर भी जहाँ तहाँ गये। इन स्थानों में से कुछ का वर्णन स्वयं कबीर ने किया है:--

मानिकपुर ही कबीर बसेरी, मद्दति सुनि सेख तकी केरी,
ऊजे सुनी जौनपुर थाना, झूसी सुनि पीरन को नामा।
इकेइस पीर लिखे तोहि ठामा। खतमा पढ़ै पैगम्बर नामा

कबीर की यह यात्रा धर्म के सच्चे स्वरूप के शोध के लिये भी हो सकती है और सतगुरू के शोध के लिये भी। कबीर की रचनाओं से यह स्पष्ट झलकता है कि उन्हें शेख, तकी आदि सूफियों में कोई श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई थी। शेख तकी को तो वे स्वयं उपदेश देते मिलते हैं।

यह है कबीर का वह जीवनवृत्त जो हमें उनकी अपनी अन्तर-साक्षी, उनकी रचनाओं में आये प्रसंगों से ज्ञात होता है। पर इस वस्तु के चारों ओर एक अद्भुत कथा का ताना बाना पूर दिया गया है, और कबीर का जीवन वृत्त अलौकिक तथा अद्भुत हो गया है।

कबीर ने केवल प्रत्यक्ष अनुभूति को ही महत्व दिया है। उन्होंने कहा है—"मैं कहता अखियन की देखी।" पुस्तकीय ज्ञान का, भले ही वह वेद का हो अथवा कुरान का, शास्त्रों या स्मृतियों का हो उन्होंने विरोध किया। उन्होंने बताया है कि मैंने 'मसि कागद तो छुआ नहीं'— फिर भी उनकी रची कितनी पुस्तकें बतायी जाती हैं। ये सभी रचनाएँ

कबीर की नहीं हैं। कबीर ने साखी दोहों में लिखी है तथा बीजक आदि पदों में। बीजक को विशेष प्रामाणिक माना जाता है।

इस जीवन परिचय से हमें यह ज्ञात होता है कि कबीर का किसी भी धर्म का कैसा ही ज्ञान हो, वह उतना गहरा नहीं था, और न उतना शास्त्रीय जैसा कोई-कोई विद्वान समझते हैं। उनकी यथार्थ भूमि लोक-वार्त्ता की भूमि थी। जिसमें सभी धर्मों का साधारणीकरण हो सकता है, उस भूमि पर कबीर ने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति से मानव के आत्म-कल्याण का अधिकाधिक दर्शन प्रस्तुत किया।

इस कवि की जन्म-मरण तिथि भी विवादास्पद रही है। किन्तु साधारणतः सं० १४५५ में इनका जन्म और सं० १५७५ में मृत्यु मानी जा सकती है।

: ३ :

जनवादी कवि कबीर

प्रकाशचन्द्र गुप्त

भारतीय सन्त-साहित्य हमारी परम्परा की अनुपम और अद्भुत निधि है। इस साहित्य में तत्कालीन भारतीय समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का सम्पूर्ण इतिहास निहित है। मध्यकालीन भारत अनेक विजातीय शासकों के युग का भारत है। इन शासकों और पूर्व विदेशी आक्रमणकारियों में एक अन्तर यह था कि ये भारतीय परम्परा के साथ घुल-मिल न सके थे। इनके आचार-विचार, संस्कृति, भाषा और वेश-भूषा भारतीय जनता के परम्परागत आचार-विचारों से सर्वथा भिन्न थे। यद्यपि ये शासक इस देश में आकर बस गये थे, फिर भी इनके और शोषित जनता के बीच भेद-भावों की एक बड़ी दीवार खड़ी थी। इन भेद-भावों को दूर करने के निरन्तर उपाय भी होते रहे, किन्तु समानान्तर रेखाओं की भाँति ये दो विभिन्न धाराएँ दीर्घ काल तक भारतीय संस्कृति में चली आती रही हैं। इनको मिलाने और एक करने का प्रयास हमारे इतिहास की प्रगतिशील परम्परा का महत्वपूर्ण अंग है, और कबीर उसके सर्वोत्तम प्रतीक हैं।

यह भी ठीक है कि भारतीय समाज के सामन्ती ढाँचे के साथ ही यह भेद-भाव जुड़े हुए हैं। जब यह ढाँचा टूट कर एक नवीन जनवादी व्यवस्था को जन्म देगा, तभी परस्पर के भेद-भाव सब के लिए मिट सकेंगे। इस नई व्यवस्था के लिए जीवन-मरण के संघर्ष में महान सन्त-कवियों का साहित्य हमारा अमूल्य उत्तराधिकार है। इस साहित्य में हम अनेक अन्तर्विरोध भी पाते हैं। सन्त-कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि

थे। उनकी सामाजिक चेतना बहुत तीव्र थी। जनता के दुख-दर्द और उसकी वेदना से फूट कर ही उनके काव्य की सरस्वती बही थी। जनता की पीड़ा से यह काव्य ओत-प्रोत है। किन्तु सन्त-साहित्य का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। सन्त-साहित्य में परलोकमुखी तत्व बहुत प्रबल हैं। इस साहित्य में हमें निरन्तर यह भावना मिलती है कि संसार असार है, माया के महलों में मनुष्य की आत्मा बन्दी है, इस माया-ठगनी के जाल से आत्मा को मुक्त करना है। इस प्रकार का दुःखवाद और पराजयवाद भी हमें इस काव्य में मिलता है।

सन्त-कवितों ने भक्ति का मार्ग अपनाया, किन्तु उनके मतों में परस्पर अनेक भेद हैं। सगुणधारा के विपरीत कबीर ने निर्गुण पथ अपनाया। उन्होंने राम और रहीम के भेद का पचड़ा ही छोड़ दिया और परस्पर के सभी भेदभावों के विपरीत जेहाद बोल दी।
कबीर कहते हैं :—

'करता के कुछ रूप न देखा। करता के कुछ वरन न बेखा।
ताके जात गोत कुछ नाहीं। महिमा बरनि न जाय मो पाहीं।
रूप अरूप नहीं तेहि ताऊँ। बर्न, अवर्न नहीं तेहि ठाऊँ।
कहँ कबीर विचारि कै, जाके बर्न न गाँव।
निराकार औ निर्गूना, है पूरत सब ठाँव॥

कबीर के काव्य में विषय-वस्तु प्रधान है। अपने मत का प्रचार करने के लिए कबीर ने कविता कही थी। उन्होंने मसि कागद छुआ नहीं था। उनकी वाणी का संग्रह बाद में उनके शिष्यों ने किया। कबीर का विचार-दर्शन उनके जन्म और जाति से काफी प्रभावित है। उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ हो, या न हुआ हो, कबीर अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं:—

"तू बाम्हन, मैं कासी का जुलहा
बूझौ मोर गियाना।"

कबीर अपने को "ना हिन्दू, ना मुसलमान" कहते हैं। श्री हज़ारी

प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी कबीर का जीवन-दर्शन उनके जन्म और जातिगत वातावरण से बड़ी हद तक प्रभावित हुआ था। द्विवेदी जी कबीर को "नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगी" कहते हैं। कबीर का विद्रोह समस्त सामन्ती आचार-विचारों और संस्कृति के प्रति समाज के दलित और त्रस्त वर्गों का विद्रोह है।

कबीर निर्गुणवादी थे, किन्तु उनके विचार-दर्शन का आधार भक्ति और प्रेम था। वेदान्त और सूफी मत दोनों से वह प्रभावित हुए थे। कबीर ने बार-बार कहा है कि प्रेम का महत्व सब पोथी-पत्रों से बड़ा है। कबीर कहते हैं :—

"पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया,
लिखी-लिखी भया जु ईंट,
कहै कबीरा प्रेम की,
लगी न एकौ छींट।"

जोगियों का भी कबीर ने काफी मज़ाक उड़ाया है :—

"कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा,
जंगल जाइ जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बन गैले हिजरा।"

कबीर सब बाह्य आडम्बर और पाखण्ड के विरुद्ध थे। इसलिये वह राम और रहीम, मुलना और पांडे का भेद न मानते थे। कबीर कहते हैं :—

"मूड़ मुड़ाए हरि मिलें, सब कोई लेइ मुड़ाय,
बार-बार के मूड़ तें, भेड़ न वैकुण्ठ जाय।"
"पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का सा खेल,
जब लग पिऊ परसे नहीं, तब लग संसय मेल।"

वर्णाश्रम धर्म पर अवलम्बित सामन्ती हिन्दू समाज के प्रति कबीर के विद्रोही हृदय के यह उद्गार निकले हैं :—

"सन्तो, पाँड़े निपुन कसाई।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, कलि माँ ब्राह्मण खोटे।"

"फूटी आँख बिबेक की, लखै न सन्त, असन्त,
जाके संग दस-बीस हैं, ताको नाम महन्त।"

कबीर 'प्रेम' को जीवन का मूल-मन्त्र मानते हैं। उनके अनुसार सच्ची धर्म वही है, जो मनुष्य को प्रेम की सीख देता है। कबीर प्रेम की महिमा गाते नहीं थकते :

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं,
सीस उतारै, भुई धरै, तब पैठै घर माहिं।
सीस उतारै, भुई धरै, ता पर राखै पाँव,
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव।"

इसी सर्वव्यापी प्रेम के कारण कबीर ऊँच-नीच और हिन्दू-मुसलमान के भेद-भावों को कोई प्रश्रय नहीं देते। मनुष्य-मात्र का महत्व उनकी दृष्टि में बड़ा है, उसकी बाह्य वेश-भूषा, आचार-विचार जो भी हों। मध्य युग के गहन कुहासे में कबीर के ये विचार आलोक की तीव्र और तीखी स्वर्ण रेखाएँ हैं, जिससे आज भी अन्ध विश्वासों में डूबा प्राणी बहुत-कुछ प्रकाश पा सकता है।

कबीर मनुष्य के दुःख से द्रवित होकर बड़ी हृदय द्रावक भाषा में जग की पीड़ा का वर्णन करते हैं :—

"जो देखा, सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा।
उदै अस्त की बात कहत हों, ताकर करौं बिबेखा॥
बाटै-बाटै सब कोई दुखिया, क्या गिरही, बैरागी।
सुक्राचार्य दुख ही के कारन, गर्भै माया त्यागी॥
जोगी दुखिया जंगम दुखिया, तापस को दुख दूना।
आसा-तृष्णा सब घर व्यापै, कोई महल नहिं सूना॥

अन्यत्र भी कबीर इसी स्वर में कहते हैं—

चलती चक्की देखि कै, दिया कबीरा रोय,
दुइ पट भीतर आइ के, साबित गया न कोय।"

इसी सर्वव्यापी पीड़ा के कारण कबीर संसार को असार समझने

लगे थे। इसके पाखण्ड और मिथ्याचारों से उन्हें घृणा हो गई थी। सभी धर्मों में वह महन्ती और झूठ का आडम्बर देखते थे। कबीर ने निरन्तर अपने पदों में सत्य, सहृदयता और सत्संग की प्रशंसा की। उनकी सीख उत्तर भारत की जिह्वा पर पूर्ण रूप से चढ़ गई है। तुलसी के समान ही उनके पद लोकप्रिय हो गये हैं। इसे सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है।

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान,
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।
सन्त न छौड़े सन्तई, कोटिक मिले असन्त,
मलय भुवंगहिं बेधिया, सीतलता न तजन्त।

कबीर के उपदेशों की निरन्तर यही ध्वनि है कि दूसरों का भला करो, यही धर्म, व्रत, संयम, यम, नियम है :

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर,
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।

जीवन-पर्यन्त अपनी अटपटी, सधुक्कड़ी भाषा में कबीर उत्तर भारत की जनता को सीख देते रहे। सुकरात के समान वह कड़वी बातें कहते थे। उनके विद्रोही हृदय का स्वर तत्कालीन शासन-व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था पर तीव्रतम आघात करता था। सुकरात के ही समान शासक वर्ग ने कबीर को भी विष का प्याला पीने के लिए दिया, किन्तु कबीर इसे पीकर पचा गये। 'झूठा रोज़ा, झूठी ईद' जैसे वाक्यों से क्रुद्ध होकर बादशाह सिकन्दर लोदी ने कबीर को ज़ंजीरों से बँधवा कर गंगाजी में फिकवा दिया, किन्तु कबीर किसी प्रकार बच गए। वह कहते हैं :—

गंग लहर मेरी टूटी जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर।
कहे कबीर कोई संग न साथ, जल-थल राखत है रघुनाथ॥

कबीर ने अपनी भाषा को भी कभी सजाया और संवारा नहीं। सीधी साफ, दो टूक बात वह कहते थे। कवि बनना या कहलाना उनका

ध्येय न था। वह कवि बिना इच्छा किये ही बन गये, क्योंकि ज्ञान का अनमोल मोती उन्हें मिला था। इसका मूल्य जनता ने पहिचाना। कबीर सामान्य जीवन से अपनी उपमाएँ लेते हैं, और इसी कारण इन उपमाओं में बल है, तीखापन है, हृदय को बेधने की क्षमता है। व्यापारी, तराजू, कुम्हार, माटी, जौहरी, गन्धी, विरहिन, पति, बहू, 'खाला का घर' आदि उपमाएँ और शब्द-चित्र कबीर वाणी में प्रचुरता से मिलते हैं। इनमें पंडितों के अनुसार अक्सर ग्रामीण दोष भी कहा जायगा। किन्तु भारतीय जनता ने कबीर की वाणी को अनायास ही अपना कर यह सिद्ध किया है कि यह वाणी भारतीय जनता के हृदय की वाणी है।

हमारे मत में कबीर के समान विद्रोही व्यक्तित्व भारतीय साहित्य के इतिहास में दूसरा नहीं हुआ। यह सच है कि अनेक प्रतिमाएँ उनके दाँए-बाँए शोभा पाने की अधिकारी हैं। शुक्ल जी बताते हैं कि नामदेव के काव्य में भी परम्परा, रूढ़ि और मिथ्याचार पर वही तीखा प्रहार है, जो हमें कबीर में मिलता है। किन्तु यह भी सच है कि इन्हीं विचारों को कबीर जिस ओज और वेग से रखते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामन्ती व्यवस्था की रूढ़ियों, पाखण्डों, आडम्बर और मिथ्याचार के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना से भरा है। उनके जीवन और काव्य के सम्पूर्ण तथ्य को उनकी मृत्यु से सम्बन्धित घटना चरितार्थ करती है। कहते हैं कि यदि किसी की मृत्यु काशी में होती है, तो वह स्वर्ग जाता है, और यदि मगहर में होती है, तो वह नरक जाता है। कबीर कहते हैं:—

जो कबिरा कासी मरै, तो रामै कौन निहोर ?

कबीर का काव्य भारतीय संस्कृति की परम्परा में एक अनमोल कड़ी है। आज का जागरूक लेखक कबीर की निर्भीकता, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी तीव्र विरोध की भावना और उनके स्वर की सहज-सच्चाई और निर्मलता को अपना अमूल्य उत्तराधिकार समझता है।

: ४ :

कबीर का दर्शन

ललिताप्रसाद सुकुल

पुण्यतोया भागीरथी का पावन अंचल अनादि काल से ही मनीषी महात्माओं का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। राजनीतिक परिस्थितियाँ कुछ भी रहें, सामाजिक व्यवस्था चाहे जैसी हो, सात्विक प्रेरणा की अजस्र परम्परा आत्मस्थिरता के सहारे निरन्तर अपने ही ढंग से और अपने ही नवविकसित रूपों में चलती रहती है। उसे चलना ही चाहिए। सात्विक जिज्ञासा और दार्शनिक चेतना उदात्त मानव की जन्मजात विभूतियाँ हैं। ये अपने नैसर्गिक रूप में लौकिक परिस्थियों की मुखापेक्षिणी कभी नहीं रहतीं।

यह ठीक है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि सामाजिक संगठन मनुष्य द्वारा विरचित है। मनुष्य ने समाज का संगठन निश्चय ही इसी निमित्त किया था कि इसके द्वारा उसकी आन्तरिक शान्ति-पिपासा अनायास तृप्त हो सके और वह आत्मविकास के पथ पर निर्विघ्न अग्रसर हो सके। इस संगठन को केवल सुख और सत्ता का माध्यम बना बैठना इसकी अन्तर्निहित पवित्रता पर आघात करना है। जहाँ एक ओर चैतन्य मानव ऊर्ध्वगामी है, वहीं अपने स्थूल रूप के वशीभूत होकर वह अपनी निम्नगामिनी प्रवृत्तियों का भी शिकार हो जाता है। इसी के प्रभाव से समय-समय पर उसने चिरपवित्र सामाजिक संगठन का घोर दुरुपयोग भी किया है। किन्तु लौकिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव की भी सीमा है। जहाँ तक मनुष्य के शारीरिक और

मानसिक धर्म का सम्बन्ध है वहाँ तक उसका समाजगत और लोकगत परिस्थितियों से जकड़ा रहना और प्रभावित होना अनिवार्य है। किन्तु आत्मज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद फिर उसे इस प्रकार के बन्धन बांध नहीं पाते।

मध्ययुग के प्रसिद्ध आत्मचिन्तकों में कदाचित कबीर और तुलसी ही ऐसे हैं जिनका अध्ययन अब तक अपेक्षाकृत कुछ अधिक हुआ है। प्रसिद्ध एवं स्वीकृत मान्यताओं के अनुसार कबीर की लिखित रचना का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनके भक्तों द्वारा संकलित समय समय पर कहे गये उनके वाक्य उनकी वाणियों में सुरक्षित हैं और उन्हीं के आधार पर उनके दृष्टिकोण का अध्ययन करना होगा।

विद्वान आलोचकों के द्वारा अब तक छोड़ी गयी जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है, उसमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक देख पड़ता है। कोई उन्हें सूफी सिद्ध करने में व्यस्त है, तो कोई उन्हें हिन्दू-मुसलिम एकता का ठेकेदार। कोई उन्हें नाथ-सम्प्रदाय का पिछलगुआ मानता है, तो कोई पूर्ण वैष्णव। प्रायः सभी के तर्क निराले हैं। और उनकी वाणियों में सचमुच स्थल-स्थल पर कुछ ऐसी उक्तियाँ बिखरी हुई मिल भी जाती हैं जो उपर्युक्त धारणाओं का आधार बन गई हैं। किन्तु किसी मनीषी चिन्तक के दार्शनिक विचारों की विवेचना फुटकल उक्तियों के आधार पर बहुत सार्थक नहीं हुआ करती।

भारतीय परम्परा में चैतन्य आत्मजिज्ञासा की तृप्ति के माध्यम को दर्शन की संज्ञा दी गई है, ज्ञान की नहीं। क्योंकि इस रूप में आत्म-चिन्तन का केन्द्र हुआ करता है वह तत्व, जो अज्ञात नहीं वरन् अज्ञेय है और जिसके लिए कहा गया है : 'यतोवाचो निवर्न्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् उस परम तत्व की आत्मानुभूति तो सम्भव मानी गई है, किन्तु ज्ञान नहीं। क्योंकि अपनी असीमता के कारण वह ठहरा अगोचर, अतीन्द्रिय और ज्ञानातीत। अनुभूतिजन्य उसका सहज धर्म उसके उपर्युक्त

रूपों को अक्षुण्ण रख सकता है। यही सार्थकता है इसके लिए प्रयुक्त 'दर्शन' संज्ञा की।

आत्मा से युक्त प्राणी मन और शरीर से भी युक्त है और इसीलिए वह जीव कहलाता है। शरीर, मन और आत्मा की त्रिविध क्रियाशीलता जीवन कहलाती है। यदि यह क्रियाशीलता शारीरिक व्यापारों तक ही सीमित रह जाये तो निश्चय ही तमोगुण का प्राधान्य होगा और यदि मनस्तत्व पर केन्द्रित हो तो रजोगुण की प्रधानता होगी। इन दोनों से ऊपर उठकर आत्मचैतन्य जीवन को सतोगुणी बनाने में समर्थ होता है, और केवल तब मानव परम आनन्दानुभूति कर सकता है।

इस परम फल की प्राप्ति के संस्कारगत अनेक साधन स्थिर हो चुके हैं। किन्तु सभी में निर्धारित साधना क्रमगत मानी गई है। शरीर की साधना के बाद ही मनस्तत्व की साधना सम्भव होती है। और इन दोनों के उपरान्त आत्मचैतन्य का वरदान मिलता है। इसी क्रम को लक्ष्य करके संसार के प्रायः सभी धर्मों में शारीरिक और मानसिक पवित्रता के नियमों का विधान प्रायः एक सा ही मिलता है। इतना और स्मरण रखना होगा कि दार्शनिक का जीवन अपने वास्तविक रूप में संयमित-अनुशासित होता हुआ भी कभी रूढ़िग्रस्त नहीं हो सकता क्योंकि यह क्षेत्र है पूर्ण आत्मविकास का। इसमें रूढ़ियों की पाबन्दी सहायक नहीं हो सकती। यही कारण है कि सामाजिक और लौकिक जीवन की रूढ़ियों का अभ्यस्त मानव एक सच्चे दार्शनिक के जीवन की विविधोन्मेखी स्वाधीन प्रवृत्ति को देखकर असमंजस में पड़ जाता है और उसकी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है।

कबीर का विचार दर्शन शायद इसका सबसे अधिक ज्वलन्त उदाहरण है। कबीर ने कहा :—

"जौ दरसन देख्या चहिए, तौ दरपन मंजत रहिए।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई।"

यहाँ दरपन से कबीर का तात्पर्य है चैतन्य आत्मा से और 'दरसन

देख्या चहिए' कहकर कबीर ने परमानन्दानुभूति की ओर ही संकेत किया है। दर्पण में काई लगने की उक्ति का अर्थ विद्वानों ने माया से लिया है। यह हो सकता है, किन्तु इसमें बाधा केवल इतनी ही है कि अर्थ सीमित हो जाता है। अच्छा यह होगा कि इसे दर्पण की सहज अपेक्षित निर्मलता का विपर्यय माना जाये। कुछ भी सही, यह या इस प्रकार की अगणित कबीर की उक्तियाँ विशुद्ध रूप से प्रतिपादित कर देती हैं कि वे चरम साधना का लक्ष्य आत्मानुभूति-सिद्ध ही मानते थे। और उनकी इस मान्यता की रीति अपने स्वभाव और धर्म में विशुद्ध परारूपिणी ही थी, अपराजन्य नहीं। क्योंकि चरम साधना थी धर्म, अर्थ, और काम के निमित्त नहीं, न शायद मोक्ष के ही लिए, वरन्, चिर आनन्दानुभूति के लिए। दीदार की पिपासा को व्यक्त करने वाली उनकी कितनी ही उक्तियाँ यह भी स्पष्ट कर देती हैं कि वे वेदान्त के स्थिर सिद्धान्त 'अहं ब्रह्मास्मि' के भी कायल नहीं थे। ब्रह्म के साथ एकाकार की बात बूँद और सिन्धु के माध्यम से उन्होंने भी कही है, एक नहीं, अनेक स्थलों पर। किन्तु अपनी अन्तर्निहित भावना में उनका यह एकाकार शंकर के ब्रह्मवाद से ऊपरी साम्य रखता हुआ भी भिन्न है। क्योंकि कबीर द्वारा दी गयी 'प्राप्ति-सूचना से यह भेद स्वतः प्रकाशित हो जाता है। वे कहते हैं :

हम न मरें मरिहै संसारा, हमकूँ मिल्या जिआवनहारा।

यहाँ 'जिआवनहारा' से उनका तात्पर्य स्पष्ट है, 'परम तत्व' से, जिसके सम्बन्ध में 'हमकूँ मिल्या' कहकर उन्होंने अपना दार्शनिक लक्ष्य-बिन्दु स्पष्ट कर दिया है। वे 'जिआवनहारा' से एकाकार होने की बात नहीं कहते, वरन् केवल उसकी प्राप्ति की ही सूचना देते हैं।

उनका यह दार्शनिक लक्ष्य-बिन्दु जो मूलतः वेदान्त से भिन्न है सर्वथा उचित ही था क्योंकि अपनी उक्तियों में बारम्बार कबीर हठयोग की क्रियाओं का समर्थन करते हैं। चक्रों और नाड़ियों के उनके उल्लेख जिस प्रमाण में और पुष्ट रूप में पाये जाते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम अपने प्रारम्भिक काल में बहुत समय तक उन्होंने

अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त सिद्ध पथ के रूप में हठयोग की साधना अवश्य की थी। एक स्थल पर इसका अकाट्य प्रमाण उनकी इस उक्ति में मिलता है कि :—

गुड़ करि ज्ञान, ध्यान करि महुआ, माठी मनधारा।
सुषमन नारी सहज समानी पीवै पवन अहारा।
अवधू, मेरा मन मतवारा॥

हठयोग की परम्परा में ब्रह्म के साथ एकाकार का प्रतिपादन मान्य नहीं है। किन्तु शंकर का वेदान्त अपने साधन पथ में राजयोग का अवलम्बन करता है और उसके अनुसार एकाकार का लक्ष्य-बिन्दु उपयुक्त है। राजयोग और हठयोग मूलतः परमानन्दानुभूति के साध्य नहीं, केवल साधन ही हैं। पार्थक्य दोनों में केवल इतना ही है कि एक की प्रणाली 'केन्द्रियानुगामिनी' है और दूसरे की 'अनन्त विकासानुगामिनी'। स्थल-स्थल पर कबीर ने भी माया का उल्लेख किया है और दार्शनिक परम्पराओं के अनुसार मिथ्यावरण का माया के रूप में स्पष्टीकरण शंकर की विचार प्रणाली से प्रारम्भ माना जाता है। कबीर द्वारा माया की विशेष आलोचना को देखकर ही कदाचित कबीर के कुछ आलोचकों को यह भ्रम हो गया है कि वे अपने दार्शनिक दृष्टिकोण में शंकर से भी प्रभावित थे। किन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। केवल माया शब्द के प्रयोग-बाहुल्य के आधार पर ही ऐसा निष्कर्ष निकाल बैठना उचित नहीं।

इससे कौन इन्कार कर सकता है कि भारतीय विचारधारा का मध्य-युग शताब्दियों तक शंकर के ब्रह्मवाद से ओतप्रोत-सा था। सही अर्थों में कितने ब्रह्मवादी रहे होंगे, यह कहना तो कठिन है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्त दर्शन के मान्य तत्व और उनसे सम्बन्धित विशिष्ट अर्थ रखने वाली शब्दावली घर घर कुछ इतनी अधिक प्रचलित हो गई थी कि जिनका मूल्य सस्ती नारे बाज़ी से और शायद कुछ नहीं रह गया था। उसी शब्दावली का एक महत्वपूर्ण शब्द यह माया भी था। निरन्तर प्रयुक्त होता हुआ यह माया शब्द भी जनसाधारण के हाथों अपने मूल

शंकरी अर्थ को छोड़कर कोसों दूर निकल आया था। मिथ्यात्व का आवरण शंकर दर्शन का 'माया' शब्द कबीर दर्शन में अब केवल आकर्षण का प्रतीक मात्र रह गया था, वे कहते हैं :—

माया दीपक नर पतंग भ्रमि-भ्रमि इवै पड़न्त,
कहै कबीर गुरु ज्ञान थे एक आप उबरन्त।

यहाँ माया का केवल निषेध ही नहीं अभीष्ट है वरन् उसकी यथेष्ट निन्दा भी प्रतिध्वनित है। केवल एक यही उदाहरण नहीं वरन् माया से सम्बन्धित प्रायः सभी स्थलों पर कबीर दर्शन में माया की कठोर निन्दा स्पष्ट होती है। इसी के विपरीत यदि शंकर दर्शन में माया के उल्लेखों पर विचार किया जाये तो वहाँ कटु निन्दा की ध्वनि कहीं भी नहीं है; वरन् संकेत केवल उसकी अवास्तविकता के ज्ञान का ही है। विविध दुर्गुणों में क्रोधजन्य कटुता और निन्दा भी माने गये हैं। उनका निषेध करने वाले कबीर माया के सम्बन्ध में स्वयं उग्र क्यों हो उठते हैं? कारण स्पष्ट है जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। साधना पथ में कबीर हठयोग की प्रणाली को अपनाये हुए थे। हठयोग की सारी साधना केन्द्रोन्मुखी होने के कारण किसी आकर्षण को सहन नहीं कर सकती, क्योंकि वह उसमें बाधक है। अतः इस अर्थ में कबीर द्वारा प्रयुक्त 'माया' शब्द की शंकर दर्शन में प्रयुक्त 'माया' की अन्तर्भावना का मूल भेद अपने आप स्पष्ट हो जाता है। और इसी आधार पर यह कहना असंगत होगा कि केवल माया शब्द के प्रयोग के मत्थे कबीर को वेदान्त दर्शन से प्रभावित मान बैठना भ्रमात्मक है।

इसी प्रकार नाथपन्थियों द्वारा अपनाई गई योगमार्गीय साधना और कबीर की यौगिक क्रियाओं की स्वीकृति में साम्य देखकर उनका नाता नाथपन्थियों से जोड़ बैठना भी कम भ्रमपूर्ण नहीं है। कबीर को नाथ पन्थ से प्रभावित मानने वाले कबीर की निर्गुणी भावना को भी अपना आधार मानते हैं। निस्सन्देह दोनों ही निर्गुण पन्थावलम्बी थे। दोनों ही अपनी साधना के लिए योग मार्ग के अनुगामी थे। किन्तु केवल

इतने ही साम्य से कबीर पर नाथपन्थ की छाप सिद्ध नहीं हो जाती। जहाँ तक निर्गुणी भावना का सम्बन्ध है उसका आदि नाथ पन्थ से तो नहीं माना जा सकता। वह भावना तो दर्शन के क्षेत्र में चिर सनातन रूप से विद्यमान है। केवल दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं वरन् सगुणोपासना रत और तुलसी जैसे प्रसिद्ध भक्तों के दृष्टिकोण में भी परोक्ष रूप से यह भावना वर्तमान थी। उसका सूत्रपात और प्रचलन भी युगों से चला आता है। इसका अवलम्बन कोई भी कर सकता है जिसके संस्कार उनके अनुकूल हों। और उसका अवलम्बन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का निर्गुणोन्मुखी होना अवश्यम्भावी है : इसी प्रकार

"भाव भगति विस्वास बिन, कटै न संसय सूल,
कहै कबीर हरि भगति बिन मुकति नहीं रे मूल।"

या

"जब लग भाव भगति नहीं करिहौ, तब लग भव सागर क्यूँ तरिहौ।"

इस प्रकार की कबीर की उक्तियों के आधार पर बहुत से आलोचक उन्हें परम वैष्णव सिद्ध करते हैं, और उपर्युक्त उक्तियों में भाव, भगति, विस्वास और हरि इत्यादि का उल्लेख देखकर ही उन्हें कबीर के वैष्णव होने का भ्रम हो जाता है। निस्सन्देह ऊपरी तौर से यह प्रयोग वैष्णवी सिद्धान्त के द्योतक हैं। किन्तु कबीर की निष्पक्ष आलोचना तभी सम्भव होगी जब यह देख लिया जाये कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने वैष्णवी सिद्धान्त के स्थिर अर्थों में किया है या किन्हीं दूसरे अर्थों में। इसका निर्णय कठिन नहीं है। कबीर ही स्वयं कहते हैं :

"सालिग्राम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ी मया नर दूजा।
ठाकुर लै पाटै पौढ़ावा, भोग लगाई अरु आपै खावा।
साच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै।"

इत्यादि इन उक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर साकारोपासना को तो स्वीकार ही नहीं कर सकते थे जिसके बिना वैष्णवी भक्ति असम्भव है। किन्तु वैष्णवी सिद्धान्त के प्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्होंने सदाचार के

विशिष्ट भावना प्रधान रूप के नाते किया था। हरि या अन्य कोई इस प्रकार के शब्द उनके लिए केवल एक ही इष्ट के द्योतक थे, अर्थात् 'राम' जिनके विषय में वे स्पष्ट कहते हैं :

"तेई नूर थैं सब जग किया कौन भला कौन मन्दा।"

इस प्रकार की उक्तियों में उनके सर्वव्यापी इष्ट राम की घोषणा उनकी उक्तियों में पग-पग पर स्पष्ट मुखरित है।

अन्त में कहना यही होगा कि अपनी दार्शनिक चेतना में कबीर परम स्वतन्त्र विचारक थे। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति अपने संस्कारों एवं योग्यताओं से युक्त स्वयं विश्व की एक स्वतन्त्र इकाई है और अपनी ही परिधि में भ्रमणशील है। परम सत्ता के अंश से प्रभासित अपने निर्वाण पथ पर अपनी ही चेतना के इशारे पर उसे अग्रसर होना है। सम्प्रदाय, चाहे वह जो भी हो और चाहे जैसा, उसकी छाप अथवा अनुगति की कोई आवश्यकता नहीं, उसे वे एक ढकोसला मानते थे। परम स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ही उनके विचार दर्शन का मूल आधार था।

: ५ :

कबीर का काव्य कौशल

गुलाबराय

महात्मा कबीर हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में निर्गुण-धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके नाम से एक देश-व्यापी पन्थ की स्थापना हुई जिसकी परम्परा आज तक चली आ रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक तत्वों की गूढ़ता, उनके हठयोग की दुर्गम साधना, उनकी नैतिक चेतावनियों की मार्मिकता तथा एकात्मवाद पर निर्धारित कीरी–कुंजर एवं ब्राह्मण-शूद्र की समता-भावना की प्रायः सभी लोगों ने मुक्त कण्ठ से सराहना की है किन्तु उनकी कविता के काव्य तत्व के सम्बन्ध में लोग प्रश्न-वाचक चिन्ह के साथ ही अपनी स्वीकृति देते हैं। कुछ आलोचक गण उनको छन्द-शास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ बतलाते हैं और उनके भाव पक्ष की श्रेठष्ता को दबे कण्ठ से स्वीकार करते हुये भी कला पक्ष की पुष्टता में सन्देह प्रकट करने लग जाते हैं। कबीरदास जी की यह उक्ति कि "मसि कागद छुओ नहिं, कलम गही नहीं हाथ" इस सन्देह को और भी पुष्ट कर देती है किन्तु उनमें कवित्व का ऐसा अभाव न था।

कवि के हृदय की नैसर्गिक स्पन्दन-धारा कविता में भी गति और लय उत्पन्न कर देती है, हृदय का ओज वाणी के ओज में परिणत हो जाता है। मन का साम्य रचना को भी संगीतमय बना देता है। यही कारण है कि कबीर के गीत सूर और मीरा के गीतों की भाँति हृदय की गति के साथ संगीत लहरी प्रवाहित करते हुए देश के इस कोने से उस

कोने तक गाये जाते हैं। कबीर के पदों को उनके नाद-सौन्दर्य के कारण ग्रामीण लोगों ने भी अपनाया है। उनके शब्दों में गीत काव्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं। वे स्वतः पूर्ण हैं और उनमें गेयत्व प्रचुर मात्रा में है। उनमें एक विशेष आत्म-निवेदन की भावना है। कबीर की भावुकता कहीं-कहीं हठयोग के सैद्धान्तिक निरूपण में अवश्य दब गई है किन्तु अधिकांश पदों में प्रातः समीरण के सौरभ की भाँति प्रस्फुटित होती रहती है।

हठयोग सम्बन्धी कुछ पद लम्बे भी हो गये हैं किन्तु अधिकांश पद अपने छोटेपन के कारण अपने गेयत्व गुण के पोषक बन जाते हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने हठयोग के साथ शृंगारिकता और संगीतमयता का अपूर्व सम्मिश्रण कर दिया है :

कैसे दिन कटिहैं जतन बताए जइयो।
एहि पार गंगा वही पार जमुना।
बिचवाँ हमको मढ़इया छवाए जइयो।

इसमें गंगा और जमुना इड़ा और पिंगला नाड़ियों के द्योतक हैं। उलट-बासियाँ, रूपकों और अन्योक्तियों को छोड़ कर जो उनके विषय की रहस्यमयता के कारण स्वाभाविक हो गये हैं (कबीर ने स्वयं ही कहा है सैना-बैना करि समझाओं गूंगे को गुर भाई)। कबीर के अधिकांश पदों में प्रसाद गुण भरपूर मात्रा में मिलता है। वे जनता के कवि थे। दीनों और जीवमात्र के उद्धार के लिए वे आये थे—'साहब को परवाना लाये हंस उबारन आये'। जो लोग जीवन का एक ध्येय लेकर आते हैं और जो जनता में अपने विचारों का प्रचार करना चाहते हैं वे प्रसाद गुण की अपेक्षा नहीं कर सकते। 'सहज मिले सो दूध सम, मांगा मिले सो पानि, कहे कबीर वह रक्तसम जामे ऐचातानि' जैसा दोहा याचक में स्वाभिमान की भावना का पोषण करता है। 'दुविधा में दोऊ गये माया मिली न राम' इस दोहार्द्ध ने लोकोक्ति का रूप धारण कर लिया है और चारों ओर मन भटकानेवाले लोगों को एक निश्चय पर आरूढ़

होने को बाध्य करता है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ, मैं बौरी ढूँढ़न गई, रही किनारे बैठ' साधक के लिए ये पंक्तियाँ आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में आशा, साहस, और उत्साह के संचार करने वाली उक्ति बन जाती हैं। कबीर में ऐसे रत्न बिना खोजे ही किनारे पर बैठनेवाले को मिल जाते हैं। कबीर ने अपनी उपमाओं और रूपकों, दृष्टान्तों आदि के फबतेपन के कारण अपनी कविता के प्रसाद गुण को और भी निखार दिया है। उनकी उपमाएं और रूपक अधिकांश में जीवन से ही लिये गये हैं। उनके रूपकों की सांगना हमारे सामने चित्र-सा उपस्थित कर गम्भीर तथ्यों को हृदयंगम कराने में सहायक होती है।

> **गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है गढ़-गढ़ काढ़ै खोट।**
> **अन्तर हाथ सहार दे बाहर बाहै चोट॥**
> **माली आवत देख कै कलियन करी पुकार।**
> **फूली-फूली चुन लिये कालि्ह हमारी बार॥**

कबीर के शृंगारिक रूपकों में माधुर्यगुण छलकता हुआ दिखाई देता है। 'बालम आओ हमारे गेह रे' 'तड़पे बालम बिना मोर जिया' 'कौन रंगरेज़वाँ रंगे मोर चुन्दरी' आदि पदों की पूर्वी भाषा शृंगारिकता को प्रायः और भी गहरा रंग देती है। कबीर के हठयोग तथा तत्व ज्ञान सम्बन्धी पदों में हमें ओज के दर्शन होते हैं। 'कूरम सेस किरकिला धनंजय देवदत्त कहं देखो। चौदह इन्दी चौदह इन्द्रा इनमें अलख न पेखो॥' नामक पद कबीर के दार्शनिक ज्ञान का परिचायक है।

कबीर चाहे पढ़े-लिखे न हों वे बहुश्रुत अवश्य थे। वे एक सिद्ध कवि की भाँति काव्य की परम्पराओं, कवि-समयों आदि से परिचित थे। साहित्य की परम्परागत भाव-सम्पत्ति का दाय उनको प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ था, तभी तो उनमें सूर-तुलसी आदि महाकवियों के साथ भाव साम्य के दर्शन होते हैं। हंस के नीर-क्षीर विवेक की बात को कबीर और तुलसी ने समान रूप से अपनाया है :

हंसा बक एक रंग लखि चरै एक ही ताल।
छीर नीर वे जानिए बक उघरै तेहि काल॥

तुलसीदास जी ने भी इसी कवि-समय का उपयोग करते हुए लिखा है :

चरन चोंच लोचन रंगौ चलौ मराली चाल।
क्षीर नीर विवरम समय बक उघरत तेहि काल॥

चातक की अनन्यता के भी कबीर और तुलसी दोनों एक ही परम्परा के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। कबीरदास जी ने कहा है :—

चातक सुतहि पठावही आन नीर मत लेह।
मम कुल यही सुभाव है स्वाति बूंद चित देह॥

तुलसीदास जी अपनी कल्पना विस्तार से चातक का प्रेतलोक में भी स्वाति जल से प्रेम दिखाते हैं, सुनिए :—

चातक सुतहि देत सिख बार ही बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना वारिधर धार॥

सेमर का फूल संसार की निस्सारता का प्रतीक माना गया है। इस कवि प्रशस्ति का कबीर और सूर दोनों ही ने बड़ी मार्मिकता से उपयोग किया है। कबीरदास जी कहते हैं :

सेमर सुवना सेइया दुई ढेंढ़ी की आस।
ढेंढ़ी फूटी चटाक दे सुवना चला निरास॥

कबीरदास जी इस उदाहरण की व्यंजना पाठक पर ही छोड़ देते हैं; किन्तु सूरदास जी उस व्यंजना को स्पष्ट करके गाते हैं :—

रे मन छाड़ विषय को रचिबो।
तू कत सुवा होत सेमर कौ अन्तहि कपट न बचिवौ॥

वे एक जगह और भी कहते हैं :

रसमय जानि सुवा सेमर कौं चौंच छालि पछतायौ।

रात को चकवे चकई के रैन वियोग का वर्णन हमारे कवियों को बहुत प्रिय है। इस कवि-समय को अन्योक्ति के रूप में कबीर और सूर

डा. ... कल्याणी ... पुस्तकालय

ने समान रूप से अपनाया है—'चल चकई वा सर विषै जहँ न रैन वियोग।' तुलसीदास के साथ तो बहुत सी बातों में कबीर का भाव साम्य है। जनता की भेड़ियाधसान वृत्ति का दोनों ने ही उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं—'ऐसी गत ठंठार की ज्यों गाडर की ठार' इसी से मिलता जुलता तुलसीदास जी का है—'तुलसी भेड़ी की धसान जड़ जनता समान'। 'भय बिनु होय न प्रीति' का भाव दोनों में समान है।

कबीर ने संस्कृत विचार परम्परा को बहुत कुछ अपनाया है—'भृङ्ग ज्यों कीट को पलटि भृङ्ग कियौ' में वेदान्तियों के कीट-भृङ्ग न्याय की झलक है और 'है साधु संसार में कमला जल माहीं' में कमलपत्र मिवाम्भसि की छाया है। 'सब बन चन्दन नाहिं, सूरों का दल नाहिं' में उलट फेर दिखाई पड़ता है। ऐसी ही उलट-पलट नीचे के दोहे में है :

वृच्छ कबहूँ नहि फल भखै नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर॥

इसका संस्कृत का बिम्ब रूप देखिये :—

पिबन्ति नद्य स्वमेवनाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतांविभूतयः
असितगिरि समस्यात् कज्जल सिन्धु पात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमूर्वी
लिखति यदि ग्रहीत्वा शारदा सर्व कालं
तदपि तवगुणानामीश पारं न याति

महिम्नस्तोत्र की इस उक्ति को सूर और तुलसी द्वारा अपनाये जाने से कबीर ने इस प्रकार अपनाया था। सुनिए :—

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
साह समुद्र की मसि करूँ गुरु गुण लिखा न जाय॥

इन उदाहरणों के विस्तार से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कबीरदास के पास किसी कवि को कवि बनाने वाली भाव सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में थी। बिना पढ़े भी उनको कवि शिक्षा अच्छी प्राप्त हो

गई थी और उसका प्रयोग भी उन्होंने कौशल के साथ किया था।

यद्यपि कबीरदासजी ने अलंकारों की परवाह नहीं की है तो भी उनकी कविता में स्वाभाविक रूप से अनेकों अलंकार आ गये हैं। रूपक और अन्योक्तियाँ तो उनके रहस्यमय विषय के अनुकूल ही हैं।

'गगन धरा घहरानी' 'पीयत प्याला प्रेम का सुधरे सब साथी' तथा **'रस गगन गुफा में अजर झरे'** आदि अनुप्रास के अच्छे उदाहरण हैं। यमक के भी एक दो उदाहरण सुनिये :

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥
एक दिन ऐसा होइगा को काहू को नाहिं।
घर की नारी को कहै तन की नारी जाहिं॥

'घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय' में विरोधाभास की छटा है। **'चाँद बिहूना चाँदना बिनु गुन बाजे'** में विभावना है।

कबीर की उपमाएँ सजीव हैं और वे उनके लोक व्यवहार ज्ञान की परिचायक हैं जैसे 'बाती दीप की कटि उजियारा होय' आदि मौलिक उपमाएँ हैं। कबीर को भाषा पर पूरा-पूरा अधिकार था। वे अपनी बात को ज़ोरदार शब्दों में कहना जानते थे। साहित्यिक चोरों को उन्होंने खूब ही ज़ोरदार शब्दों में डाँटा है—'लाया साखी बनाय कर इत उत अच्छर काट, कहे कबीर कब लग जिए जूठी पत्तल चाट।' ऐसी ही ज़ोरदार शब्दावली एक और लीजिए 'कहे कबीर कब तक रहे रूई लपेटी आग'। कबीर ने मुहावरों से भी अपनी भाषा को सजीवता प्रदान की है—'पाँव कुल्हाड़ी मारिया मूरख अपने हाथ।' कबीर की भाषा में ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी सभी का पुट मिलता है। इस लिए शुक्ल जी ने उनकी भाषा को खिचड़ी भाषा उपयुक्त रूप से कहा है। अब अन्त में उनके भाव सुकुमारता के दो एक उदाहरण दे देना आवश्यक है। वे अक्खड़ ही नहीं थे, उनमें बड़े कोमल भाव भी थे :

डा० डिल्ली एमण रेम्मी
कल्याणी रेम्मी स्मारक
पुस्तकालय

सुपने में साईं मिले सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपता मत् सपना ह्वै जाय॥
साईं मेरे बहुत गुन लिखे जु हिरदे माँहि।
पिउ न पानी डरपता मत वे धोए जाँहि॥
नैनों अन्दर आव तू नैन झाँपि तोहि लेऊँ।
ना मैं देखूँ और को ना तोहि देखन देऊँ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीरदास में जैसे कला पक्ष की कमी नहीं, वैसे भाव पक्ष की भी कमी नहीं है।

২৫৯ ৬৩০৫২
২৭ ৩৫৩৯

पब्लिकेशन्स डिवीजन

सूचना तथा प्रसार मन्त्रालय

भारत सरकार